कला और शिक्षा

ऋषभ कुमार मिश्र*

इस लेख में कला को 'जानने' और 'होने' की एक विधा मानते हुए इसकी स्वरूपगत विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। कला और संस्कृति के संबंधों की पड़ताल करते हुए स्थापित किया गया है कि कला एक ओर संस्कृति की विरासत का प्रतिनिधित्व करती है, वहीं उस संस्कृति के रूपांतरण का माध्यम भी बनती है। इसी संदर्भ में कला और लोक के संबंध की व्याख्या की गई है। तदुपरांत शिक्षा की वर्तमान प्रवृत्तियों के सापेक्ष कला के निहितार्थ और महत्व का प्रतिपादन किया गया है। इस लेख की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि रवीन्द्रनाथ टैगोर, जॉन डीवी और मैक्सिन ग्रीन के विचारों के आलोक में निर्मित है, जो सुझाती है कि 'कला' अनुभवों में नए अर्थ को खोजने का माध्यम है।

मानव स्वभावतः न केवल अपने परिवेश को जानना चाहता है, बल्कि इसके पार जाकर अपने 'होने के' अर्थ को भी खोजना चाहता है। इस प्रक्रिया में उसे संस्कृति का वैविध्यपूर्ण और समृद्ध मंच मिलता है। इस मंच के नायक के रूप में वह संस्कृति से अपने संबंधों को गहन और विस्तृत बनाने के लिए सक्रिय रहता है। व्यक्ति की यह सक्रियता उसकी अस्मिता का सांस्कृतिक आयाम बनती है। उसे संस्कृति विशेष के प्रतिनिधि के रूप में स्थापित करती है। अंततः उसके 'होने' और 'बनने' में योगदान करती है। वर्तमान में औपचारिक शिक्षा को इस प्रक्रिया के उत्प्रेरक की भूमिका में परिकल्पित किया गया है। इससे अर्जित अनुभवों, ज्ञान, और कुशलताओं की अभिव्यक्ति, अधिगम और अभ्यास के द्वारा व्यक्ति विश्वदृष्टि निर्मित करता है। इस विश्वदृष्टि के विकास के लिए संज्ञानात्मक और संवेगात्मक परिष्कार की ज़रूरत होती है। संज्ञानात्मक परिष्कार इंद्रिय और बुद्धि का प्रशिक्षण करता है। यह सूचना और तर्क के जोड़-तोड़ द्वारा वस्तु जगत से परिचित कराता है। भाव जगत के परिष्कार द्वारा व्यक्ति स्वयं की अनुभूति कर पाता है। दुनिया से स्वयं को जोड़ पाता है। अनुभवों की पुनर्रचना, अंतर्निहित क्षमताओं के प्रस्फुटन, समाज में सक्रिय भूमिका निभाने की प्रतिबद्धता द्वारा सौंदर्यानंद की अनुभूति कर सकता है। इस तरह से व्यक्ति उत्तरोत्तर निजता के लघु आवरण से बाहर निकलकर प्रकृति और विश्व के साथ एकाकार होने की ओर बढ़ता है (टैगोर, 1917)। वह खुद को वृहद् विश्व के अंश होने का बोध आत्मसात् करता है।

टैगोर (1917) का मानना है कि शिक्षा के द्वारा संज्ञानात्मक विकास के साथ आनंद और तदनुभूति की सीमाओं का विस्तार होना चाहिए। यह विस्तार कोई आध्यात्मिक या पारलौकिक घटना नहीं है

**सहायक प्रोफ़ेसर*, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र – 442005

Chapter 7.indd 50 18-03-2019 14:37:19

बल्कि व्यक्ति दैनंदिन जीवन में अपनी सक्रियता, परिवेश को जानने की जिज्ञासा, संप्रेषणीयता और रचनाशीलता के द्वारा खुद का विकास उक्त रूप में कर सकता है। मैक्सिन ग्रीन (2008) जैसी अस्तित्ववादी विचारक इसे चेतना की 'जड़ता से मुक्ति' की संज्ञा देती हैं और कल्पना को इसका मूल मानती हैं। उनके अनुसार, कल्पना करने की क्षमता के कारण व्यक्ति परिवेश का यंत्रवत प्रत्यक्षण करने के बदले उसमें सौंदर्य की खोज करता है। सौंदर्य की खोज की यह प्रक्रिया वैयक्तिक नहीं होती, बल्कि इसमें तद्नुभूति का भाव निहित होता है। यह चेतना को इस तरह से जाग्रत करती है कि व्यक्ति को अपने जैसे ही दबे, कुचले और शोषितों की बेचैनी से बेचैनी होती है। वह न केवल खुद को मुक्त करना चाहता है, बल्कि अन्य की मुक्ति को भी महत्वपूर्ण मानता है। निहितार्थ है कि संज्ञान और भाव जगत के परिष्कार द्वारा विकसित विश्वदृष्टि का अभीष्ट सौंदर्य होता है। ये सौंदर्य भाव व्यक्ति और समाज, दोनों में रूपांतरण की प्रक्रिया को गतिशील बनाए रखते हैं। शिक्षा जैसे माध्यम इस गतिशीलता की धुरी हैं। इस पृष्ठभूमि में प्रासंगिक सवाल है कि शिक्षा व्यक्ति के निर्माण में किस तरह की भूमिका का निर्वाह कर रही है?

औपचारिक शिक्षा का संक्रांति काल

शिक्षा की शृंखलाबद्ध संरचना ज्ञात से अज्ञात, मूर्त से अमूर्त, सरल से कठिन जैसे सिद्धांतों के आधार पर निर्मित है। इन सिद्धांतों के अनुकूल नाना प्रकार के अनुभवों को शैक्षिक संस्थानों में प्रदान करने का लक्ष्य रखा गया है। ये वृहद् लक्ष्य मानव कल्याण के लिए समर्पित हैं। फिर भी हमारे शैक्षिक संस्थानों में बढ़ती प्रतियोगिता, असहिष्णुता, संवेदनहीनता की चिंता व्यक्त की जा रही है। वर्तमान शिक्षा का लक्ष्य ज्ञान के सीमित स्वरूप के स्थानांतरण से उत्पादक श्रम तैयार करना हो गया है। इसके द्वारा निश्चितता, सार्वभौमिक अर्थ, दक्षता विकास और अपेक्षित व्यवहार के पैमाने पर सटीक व संतुलित होने का प्रशिक्षण दिया जा रहा है। शिक्षा, जिसे बच्चे की दुनिया का विस्तार करना चाहिए था, जिसे कल्पनाशीलता को संवर्धित करना चाहिए था, जिसे विश्वास करना, सहिष्णु बनाना, दूसरे को स्वीकार करना और सुंदरता की खोज के लिए प्रेरित करना था, उसने अपने लक्ष्यों को केवल संज्ञानात्मक प्रशिक्षण के अर्थ तक सीमित कर लिया है।

शिक्षा व्यवस्था एक बंदिश-सी बनती जा रही है। एक ऐसी बंदिश जो हमारे जीवन को बाज़ारोन्मुख और उपभोक्तावादी बना रही है, जो हमारे सामाजिक दायरे को लगातार छोटा कर रही है, जो हमारे 'आत्म' की संतुष्टि को वस्तुओं के संग्रह के रूप में परिभाषित कर रही है। यह शिक्षा वयस्कों द्वारा बच्चों के लिए ऐसी दुनिया का निर्माण है जहाँ बच्चों को क्या, कब और कैसे सीखना है, इसका पूर्व निर्धारण कर बच्चों को कच्चे माल की तरह सम्मिलित कर दिया जाता है। हम मानने को तैयार नहीं हैं कि बच्चों के पास भी वयस्कों को सिखाने के लिए बहुत कुछ है। वे भी वयस्कों की सांस्कृतिक दुनिया में योगदान कर सकते हैं। बच्चों की दुनिया को गुणात्मक तरीके से भिन्न मानने, उनके अस्तित्व, उनमें अनुभूति को मूल्य देने की संभावना के लिए कोई स्थान ही नहीं छोड़ा है। यदि हम उनकी दुनिया को मूल्यवान माने तो जिस रास्ते पर शिक्षा है, उससे भिन्न मार्ग की परिकल्पना करनी होगी। एक ऐसे मार्ग की परिकल्पना जहाँ अनिश्चितता हो, जहाँ विस्मय हो, जहाँ अर्थों की

बहुलता और अभिव्यक्ति के कथ्य और माध्यम की स्वतंत्रता हो, जहाँ कल्पनाशीलता, संवदेनशीलता और सौंदर्यपरकता हो, जहाँ न दिखने वाले सत्य को उजागर करने की संभावना हो। इस लेख में ऐसे परिकल्पित मार्ग का प्रवेश द्वार 'कला' को माना गया है। शिक्षा में कला विस्तार की संभावनाओं की चर्चा की गई है।

कला क्या है?

कला मानव संस्कृति के मंच पर सृजन, सौंदर्य और आत्मानुभूति का राग है। इसकी परिभाषाओं को टटोले तो इसके लिए 'पूर्णता की ओर यात्रा', 'आत्म की खोज', 'ईश्वर का उपहार', 'ईश्वर के साथ एकाकार होने का माध्यम', 'असंतुष्टियों और अचेतन की अभिव्यक्ति','सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति' और 'अनदेखे की अभिव्यक्ति' जैसे विशेषण मिलते हैं। इसकी परिधि और परिभाषा के अतिविस्तार को देखते हुए ही टैगोर (1917) ने कला क्या है? का उत्तर इसकी वैयक्तिक और सामाजिक उपादेयता में खोजने की तरकीब बताई है। वे कला के तीन आयामों की स्थापना करते हैं। प्रथम, स्वयं की, अभिव्यक्ति करने की मूलवृत्ति; द्वितीय, सौंदर्य सृजन द्वारा 'हमारे' आनंद की खोज एवं तृतीय, संस्कृति के योजक तत्व के रूप में व्यक्ति और समाज का समास। कह सकते हैं कि कला मानव जीवन का अभिन्न अंग है जो उसके दैनंदिन अनुभवों को देखने की दृष्टि में गुणात्मक भिन्नता पैदा करती है। यह अनुभवों की अभिव्यक्ति और संप्रेषण है, जिसके अनेक माध्यम हो सकते हैं। इन माध्यमों की अपनी संरचनागत और शैलीगत विशेषताएँ होती हैं, जिनका लक्ष्य जीवन रस को सिंचित करना होता है। इन्हीं माध्यमों से चित्रकला, शिल्प, नृत्य, संगीत कुछ प्रमुख माध्यम हैं, लेकिन ये समग्र रूप नहीं हैं। यह सूची अति विस्तृत है और संस्कृति सदा इसमें नए 'रूप' जोड़ती रहती है। इन रूपों द्वारा कला संस्कृति का आख्यान बनती है। वह परंपरा को अपनाती है और जड़ता को भंग करती है।

कला की रचना और संप्रेषणीयता एक मननपूर्ण प्रक्रिया है जो कलाकार और कलाप्रेमी को अपने संदेशों के माध्यम से भागीदार बनाती है। इस मननपूर्ण प्रक्रिया का बीज अनुभूति का उद्दीपन है। यह उद्दीपन कलाकार को सृजन के लिए बेचैन करती है और दर्शक को निर्वचन के लिए आमंत्रित करती है। इस उद्दीपन में कलाकार इस तरह से डूबता है कि उसके लिए हर क्षण स्वयं में ही एक प्रोत्साहन और पुरस्कार बन जाता है, जो संतुष्ट होने की प्रक्रिया तक चलता रहता है। संतुष्टि की इस प्रक्रिया में कोई अंतिम उत्पाद या स्थिति नहीं होती है, बल्कि यह सतत होती है और हर बार नये रूप और अर्थ में प्रकट होती है। इस नयेपन की विशेषता उसका सौंदर्य और आत्मीयता है जो स्वांतसुखाय होने के साथ-साथ दूसरों के भी आनंद का स्रोत बनती है। कला का यही आनंदतत्व वह सेतु बनता है जो कलाकार की अभिव्यक्ति और दर्शकों की सराहना को जोड़ता है। अंततः सौंदर्यानुभूति बनकर प्रतिष्ठित होता है। इसी सौंदर्य को भारतीय परंपरा में परम सत्य की अभिव्यक्ति माना गया है। कला इसी परमसत्य के खोज का मार्ग है। स्पष्ट है कि कला एक उपकरण मात्र नहीं है जो अल्प समय के लिए मनोरंजन का माध्यम बनती है। उसका मूल्य इससे कहीं अधिक है जो मानव के सर्वांगीण विकास और सर्वजनहिताय के लक्ष्य के लिए प्रतिबद्ध है।

कला और संस्कृति

कला, संस्कृति का संस्कार है। एक ओर जहाँ व्यक्ति कला के माध्यम से अपने अर्थ की अभिव्यक्ति करता है, वहीं समाज इस अभिव्यक्ति के अनेक अर्थों का आरोपण करता है। इसी कारण आप किसी भी संस्कृति को कलाविहीन नहीं पाएँगे। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि कला के अर्थ की सार्वजनिक व्याप्ति भी संस्कृति द्वारा ही होती है। इसे कलाकार और दर्शक के संबंध द्वारा समझा जा सकता है। कला, कलाकार के विचार और भाव की अभिव्यक्ति होती है। दर्शक उसे ग्रहण करता है। इस प्रक्रिया में रचने वाले का आनंद और देखने वाले का आनंद अलग-अलग होता है। सृजग में रस-निष्पत्ति क्यों हुई? क्या इसका कारण रचने का सुख था? रचने के दौरान होने वाली वैचारिक-सांवेगिक उथल-पुथल या सराहना की अभिलाषा? इसका उत्तर नितांत वैयक्तिक होगा। उत्तर चाहे जो हो वह निश्चित रूप से एक सकारात्मक संवेग होगा।

अब दर्शक के पक्ष को लीजिए। दर्शक कला में कलाकार का अर्थ नहीं खोजता। वह अपने अनुभवों के माध्यम से उस कला को समझने की कोशिश करता है। यदि दर्शक आलोचक हुआ तो वह कला को केवल कला की सूक्ष्मताओं की दृष्टि से देखेगा और उसका उद्देश्य कला का आनंद न होकर कला का मूल्यांकन हो जाएगा। दर्शक को किसी भी कला में अपने भावों और विचारों के दर्शन होते हैं। इस दृष्टि से वह कलाकार के स्तर तक नहीं जा सकता है। वह सराहना के माध्यम से अपने अर्थ से कलाकार को परिचित करा सकता है। एक तद्नुभूतिपूर्ण संबंध जोड़ सकता है। कलाकार की ही तरह दर्शक भी अपनी उलझनों के बीच कला में जीवन की लय को खोजता है।

इस तरह से कला केवल कलाकार की पूँजी नहीं रहती, बल्कि वह संस्कृति का एक रूप बन जाती है। यह रूप केवल दर्शनार्थ नहीं है, बल्कि इसका अगली पीढ़ी तक हस्तांतरण होता रहता है। जब इस हस्तांतरण के उत्पाद को हम वस्तु या प्रदर्शन के रूप में पहचानते हैं तो यह कला को कुशलता और अनुकरण तक सीमित कर देती है। जबकि कला केवल कुशलताओं का प्रशिक्षण और अनुकरण मात्र नहीं है। यदि कुछ कुशलताओं के प्रशिक्षण को हम कला की श्रेणी में रखते हैं और इनमें लोगों को प्रशिक्षित करते हैं तो इसके माध्यम से प्रशिक्षित प्रदर्शन करने वाले या कला की नकल उतारने वाले लोग तैयार हो जाएँगे, लेकिन कलाकार नहीं। वे कारीगर तो होंगे, लेकिन कलाकार होने के लिए जिस नये रचना बोध या प्रेरणा या कल्पना की आवश्यकता होती है, उसके अभाव में उनकी कला विशिष्ट नहीं होगी, वह अनुकरण या पुनरावृत्ति बनकर रह जाएगी अर्थात् कला द्वारा रस निष्पत्ति या भाव उद्दीपन के लिए पर्याप्त नहीं है। कल्पना, विचार और भाव प्रेरित नूतनता होना भी इसके लिए आवश्यक है। इस मान्यता पर आगे बढ़ने का आशय यह नहीं है कि कलाकार को जन्मजात प्रतिभा की कोटि में रख दिया जाए। नए रूपों और विधाओं में प्रकट होना कला की अपनी विशेषता है। इसके लिए वह कलाकार की कल्पना को माध्यम बनाती है और उसके रास्ते संस्कृति की उर्वर भूमि में प्रस्फुटित और प्रसारित होती है। कलाकार उसके प्रतिनिधि होते हैं, लेकिन मालिकाना हक लोक का होता है। कलाकार की कला भी 'स्व' के रास्ते से होते हुए 'लोक' की ही ओर जाती है। इस रास्ते पर चलते हुए कला किसी भी संस्कृति का प्रतिनिधि तत्व बन जाती है, जिसमें

सुंदरतम को संरक्षित, सृजित और स्थानांतरित किया जाता है। इसमें आत्माभिव्यक्ति के साथ साझेदारी का भाव भी होता है। यह साझेदारी इसे व्यक्ति और समाज का संयोजक बना देती है। इसी कारण आनंद की विधाओं के रूप में कला का जन्म होता है।

ये विधाएँ प्रदर्शनकारी कला या दृश्य कला आदि के माध्यम से जीवन को एक लय देती हैं। यह लय संस्कृति के समय चक्र में जुड़ जाती है और कलाएँ सार्वजनिक उत्सवों का प्रतीक बन जाती हैं। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति अति समृद्ध है। पानी और बानी की तरह यहाँ कलाओं का समृद्ध संसार है। यह संसार कला के बहाने सभ्यता की कहानी को कहता है। अपने संवेगों को दीवारों पर उकेरता है तो कंठ से स्वर भी देता है। दस्तकारी द्वारा रसों को उड़ेलता है तो नृत्य की पदचाल से मन की हिलोरों को भी खोलता है। इसमें सौंदर्य का आकर्षण है तो जीवन के आरोह-अवरोह की भावभूमि भी है। शायद इसीलिए किसी औपचारिक और सांस्थानिक व्यवस्था के बिना यह गतिमान है। इसमें अभिजन तत्व या शास्त्रीयता है तो ठेठ देशी अंदाज़ भी है। इसका एक छोर घोर पाण्डित्य से जुड़ा है तो दूसरा निपट निरक्षर कलाकारों की परंपरा है। कला कोई अमूर्त और लोकेतर ज्ञान नहीं है, बल्कि यह दैनंदिन जीवन का अंग है जो व्यक्ति की दुनिया के प्रति दृष्टि बदलने का कार्य करती है।

शिक्षा के लिए कला के निहितार्थ

शिक्षण के संदर्भ में प्रायः कला को अभिव्यक्ति की विधाओं के प्रशिक्षण के रूप में देखा जाता है। पूरी पाठ्यचर्या में इसे गणित, विज्ञान और भाषा जैसे विषयों की तुलना में अपेक्षाकृत कम समय दिया जाता है। अधिकांशतः कलाओं को पाठ्यसहगामी क्रियाओं का हिस्सा बनाया जाता है। प्राथमिक कक्षाओं में शिक्षा को आनंददायी या कहें कि बाल-केंद्रित बनाने के नाम पर कला से जुड़ी गतिविधियाँ कराई जाती हैं। शिक्षा का स्तर बढ़ने के साथ ये अपेक्षाकृत कम होती जाती हैं। यदि कला से शिक्षण का जुड़ाव मानने वाले थोड़े अध्यापक हैं तो वे मुख्य विषयों, जैसे — गणित, विज्ञान, अंग्रेज़ी और हिंदी के शिक्षण में कलाओं के उपयोग की बात करेंगे। उनका भी ध्यान विषय पर होता है। कला केवल माध्यम मात्र होती है। इस रूप में जो समय कलाओं को समर्पित है, उस दौरान इनमें संलग्नता को केवल मनोरंजन के स्तर तक रखा जाता है। दुःखद तो यह है कि विद्यालयों में कला के शिक्षक अन्य विषयों में शिक्षण की पद्धति का अनुसरण करते हुए कला के विभिन्न स्वरूपों को सभी बच्चों को समान रूप से प्रदान करना चाहते हैं। इससे प्रदर्शनी आदि के माध्यम से कला के नाम पर जो सृजन होता है, उसके उत्पादों को प्रदर्शित किया जाता है।

कला में संलग्नता की ये प्रक्रियाएँ न तो सत्यम् शिवम् सुदंरम् के मूल्य को चरितार्थ करती हैं और न ही संस्कृति-स्पंदित होती हैं। यह भी अवलोकनीय है कि कला के विस्तृत आयाम को हमने 'क्राफ्ट' के कुछ रूपों तक सीमित कर दिया है। जबकि कला एक सांस्कृतिक गतिविधि है। यह विचार, भावना, कल्पना के सहारे यथार्थ को खोजने और सपनों को उकेरने का कार्य करती है। इसमें न केवल आत्माभिव्यक्ति, समस्या समाधान, सृजनात्मक चिंतन आदि की संभावना है, बल्कि यह 'सत्य के पूर्व निर्धारित' रूप को खोजने के बदले 'सत्य की खोज' की ओर ले जाती है। इस तरह से कला भी

'जानने' की एक विधि हो सकती है (टैगोर, 1917)। टैगोर ने इस जानने की विधि की अद्वितीयता की तुलना विज्ञान से की है। आप मानते हैं कि विज्ञान सूचना, तर्क, प्रमाण और कार्य-कारण की बात करता है। इसके माध्यम से वह दुनिया को परिभाषित करना चाहता है। लेकिन कला का रास्ता इससे उलटा है। वह असीम है। वह बुद्धि के बदले संवेग चालित है। वह जिसे मापा नहीं जा सकता, देखा नहीं जा सकता, उसे अभिव्यक्त करती है। वह उपयोगिता के बदले अनुभूति को प्राथमिकता देती है।

डीवी (1934) भी मानते हैं कि कला केवल विद्यार्थी की आनुभाविक अभिव्यक्ति मात्र नहीं है, बल्कि सामाजिक सक्रियता और मननशीलता की भी प्रक्रिया है। मैक्सिन ग्रीन (1984) कला जनित मननशीलता और कल्पनाशीलता को सामाजिक रूपांतरण का बीज मानती हैं। स्पष्ट है कि शिक्षा के लिए कला की भूमिका वृहद्तर है— प्रथम, कला में प्रत्यक्ष भागीदारी में, जहाँ विद्यार्थी खुद रचना प्रक्रिया का हिस्सा होते हैं। द्वितीय, कला द्वारा अनुभवों की पुनर्रचना और उसमें नये अर्थ की खोज करना, जहाँ वे उत्पाद का निर्माण नहीं करते, बल्कि उत्पाद के माध्यम से यथार्थ के प्रति अपनी समझ को निर्मित और संप्रेषित करते हैं। तृतीय, वे संज्ञान और अनुभूति के स्तर पर संस्कृति के लोकतत्व से परिचित होते हैं। यह परिचय न केवल उनकी दुनिया का विस्तार करता है, बल्कि सभ्यता की कहानी को स्मृतियों में जीवंत करता है।

कला के संदर्भ में उल्लेखनीय है कि इसके रूप और विषय-वस्तु को अलग नहीं किया जा सकता। कला का अर्थ भी इनकी अंत:क्रिया से ही उपजता है। जैसे ही इन दोनों में से किसी एक में परिवर्तन होता है, एक नई रचना का जन्म होता है। नई रचना केवल बाह्य कलेवर में आनुपातिक या यांत्रिक बदलाव का परिणाम नहीं है, बल्कि यह रूप और विषय-वस्तु के संबंध में नया प्रयोग है। वस्तुतः यह प्रयोग ही कला में और कला द्वारा आनंद और विस्मय पैदा करता है। यह अहा बोध न होकर कला की साधना का परिणाम है, जिसके हर क्षण में कला के साथ समग्रता में जीने का बोध है। इस प्रक्रिया में कलाकार की अभिप्रेरणा और कल्पनाशक्ति, उसे अपनी सीमाओं के पार जाने का अवसर देती है। सीमा को पार करना आत्मसातीकरण की ओर बढ़ना है। आत्मसातीकरण अनुभूति का विषय है। इस दृष्टि से कला हमारी अनुभूति के लिए आवश्यक है।

जबकि वर्तमान शिक्षा संज्ञान और इसकी गति को तीव्र करने का प्रशिक्षण है। इसमें सूचनाओं को इकट्ठा करना, समस्याओं को हल करना, वर्गीकृत करना, पहचानना, तर्क करना आदि संक्रियाओं की प्रधानता है। उक्त संक्रियाओं में दक्षता, सूचना प्रसंस्करण की गति को तीव्र कर सकती है, लेकिन इनका अनुभूति से कोई लेना-देना नहीं है। गति (शिक्षा) भोजन की मात्रा को ग्रहण करने से संबंधित है तो अनुभूति (कला) उसका स्वाद ग्रहण करने से संबंधित है। निस्संदेह तृप्ति स्वाद से ही मिलती है। इस तृप्ति को खोजने के बदले आजकल कला के तकनीकी पक्षों का शिक्षण किया जा रहा है। एक विषय के रूप में कला का शिक्षण करते हुए अध्यापक विद्यार्थी की कल्पना, विचार और रचना के बदले कला की 'तकनीक' को केंद्र में रखते हैं। ऐसा करने पर विषय का शिक्षण तो हो जाता है

लेकिन न तो कला का उद्देश्य पूर्ण होता है और न ही शिक्षा का। कुछ अध्यापक सूचना प्रौद्योगिकी के उपकरणों को कला शिक्षण का माध्यम बनाने का सुझाव दे रहे हैं।

प्रथम दृष्टया तो इसे सूचना प्रौद्योगिकी का सकारात्मक उपयोग कहा जा सकता है, लेकिन कलाओं के संदर्भ में उल्लेखनीय है कि सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम और उपकरण, रंग की कूची, नृत्य की मुद्राओं, स्वरों का आरोह-अवरोह, चाक पर मिट्टी के लोढ़े और क्ले की सुनम्यता का विकल्प नहीं हो सकते हैं। कला, जिसका फलक जीवन के समान विस्तृत है, उसे विषय की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। इसका विस्तार शिक्षण के प्रत्येक विषय और पद्धति में हो सकता है। हमारे शिक्षकों को समझना होगा कि शिक्षण में कला न केवल सौंदर्य को रचने और देखने की दृष्टि देती है, बल्कि आलोचना और सराहना का विवेक भी पैदा करती है। कला उनके लिए विषय मात्र नहीं है जिसे उन्हें पढ़ा देना है, बल्कि कला के माध्यम से वे स्वयं को स्वयं से, प्रकृति से और संस्कृति से जोड़ सकते हैं।

हमें मानना होगा कि कला खोज की एक विधि है जो जितनी वैयक्तिक है, उतनी ही सामाजिक और सांस्कृतिक भी। यह वैयक्तिक अस्मिता का बोध कराती है, अस्मिता के सांस्कृतिक घटक, खासकर पहचान के प्रतीकों को अंगीकार करने का माध्यम बनती है। एक सामाजिक-सांस्कृतिक उपकरण के रूप में यह ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और पर्यावरणीय मुद्दों को समझने का माध्यम हो सकती है। कला समुदाय के साथ संबंध जोड़ने का माध्यम बन सकती है। इस भूमिका में कला विद्यालय और विद्यालयेतर परिवेश के बीच के अंतराल को कम करेगी। स्थानीय समुदाय की कलाओं और कलाकार को कक्षा में स्थान देना कक्षा को संस्कृति स्पंदित बनाता है। सांस्कृतिक दृष्टि से उपेक्षित या लुप्तप्राय कलाओं को स्थान देकर कक्षा को समावेशी बनाने के साथ सामाजिक न्याय का उद्देश्य भी प्राप्त किया जा सकता है।

कला को कक्षा में ऐसा स्रोत बनाया जा सकता है जिसके माध्यम से बच्चे क्या सीखना चाहते हैं? इसे न केवल खुद तय करेंगे, बल्कि इस दिशा में आगे भी बढ़ेंगे। कला को औपचारिक शिक्षण की अग्रपंक्ति में खड़ा करके इंद्रियानुभवों में सौंदर्य की व्याप्ति को बढ़ाया जा सकता है। विद्यालयों की रोज़मर्रा की दिनचर्या जो 'जानने' और 'संग्रहित करने' जैसी क्रियाओं से अनुशासित है वहाँ 'करने' और 'रचने' के आनंद को स्थापित किया जा सकता है। अंततः डीवी (1934) की पुस्तक *आर्ट एज़ एक्सपीरियंस* के हवाले से कहना चाहूँगा कि जब व्यक्ति अपने परिवेश और अनुभवों के प्रति उदासीन हो जाता है, जब ये अनुभव उसे कोई रोमांच नहीं देते हैं, जब उसकी चेतना जड़वत हो जाती है तो कला उसके अनुभवों को जीवंत बनाने, उसमें सौंदर्य का आरोपण करने, जिज्ञासा का सृजन करते हुए उसे उदासीनता से सक्रियता के रास्ते पर लाती है। यह किसी दूसरी दुनिया से जोड़ने के बदले रोज़मर्रा के सामान्य प्रतीत होने वाले अनुभवों में नये अर्थ को खोजने का माध्यम बनती है। इन्हीं अर्थों और भूमिकाओं में कला और शिक्षा का समन्वय व्यक्ति को स्वयं से, प्रकृति से और संस्कृति से जोड़ता है। यह जोड़ अनुभवों में गुणात्मक भिन्नता पैदा करता है जिसके द्वारा एक बेहतर दुनिया की परिकल्पना को साकार किया जा सकता है।

संदर्भ

ग्रीन, मैक्सिन. 1984. द आर्ट ऑफ़ बीइंग प्रज़ेंट— एजुकेटिंग फ़ॉर एस्थेटिक एनकाउंटर. द *जर्नल ऑफ़ एजुकेशन*. 166(2), पृ.123–135.

———. 2008. एजुकेशन एण्ड द आर्ट्स्— द विंडोज़ ऑफ़ इमैजिनेशन. *लर्निंग लैण्डस्केप*. 2(1), पृ.17–22.

टैगोर, रबीन्द्र नाथ. 1917. *पर्सनालिटी*. मैकमिलन एण्ड कंपनी, कलकत्ता.

डीवी, जॉन. 1934. *आर्ट एज़ एक्सपीरियंस*. द बर्कले पब्लिशिंग ग्रुप, न्यूयार्क.